संपादकीय

अपनी अपनी 'पूस की रात'

सन् 1921 में प्रकाशित प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' की प्रासंगिकता पर 2021 के समाप्त होने के पहले विचार कर लेने से इसका 'सौ साला' आयोजन एक तरह से हो जाएगा। यह कहानी पूस की रात में लिखी गई थी या नहीं - यह भले अज्ञात है, लेकिन इतने दिनों बाद जलवायु परिवर्तन के कारण वैश्विक तापमान में बढ़ोतरी होते जाने के दौर में भी न पूस बदला है और न रात और उसकी प्रकृति बदली है और इसलिए जो जहाँ है, जैसे है, जिससे भी संबद्ध है, उसे पौष की ठंडक से बचने के लिए कुछ न कुछ उपाय करना पड़ता है। हर किसी को 'पूस की रात' अपने आ जाने का एहसास कराती है। नीलगायों का आतंक सौ साल पहले प्रेमचंद की नज़र में आया था, किंतु आज से बीस-पच्चीस साल पहले तक सारण जिले के भेल्दी और इसके आसपास घोड़परास सैंपल के तौर पर भी नहीं दिखता था, किताबों में तस्वीर देखकर इसके आकार-प्रकार का अंदाज़ लगता था। आजकल इनका संख्या-बल इतना बढ़ गया है, जिससे त्रस्त होकर लोगों ने कुछ हद तक फसलों को, पेड़-पौधों को लगाना तक छोड़ दिया है। 'पूस की रात' के हल्कू को तो दूर जाकर बोए खेतों की रखवाली करनी पड़ती थी, यहाँ तो घर से सटे खेतों और दरवाजे पर लगे छोटे पौधों तक पर नीलगायों के प्रकोप का गहरा पहरा है कि फसल, सब्जी या कोई फलदार वृक्ष पनपने न पाए। पेड़-पौधों को लगाने की जुर्रत करने के पहले उन्हें इस प्रकार के खतरों से बचाने के बारे में सोचना पड़ता है, दवाइयों के छिड़काव से लेकर मजबूत घेराबंदी तक होती है, पर घेरा भी कहाँ तक जा सकता है। एक-आध प्रतिशत जमीन भी तो नहीं घेरी जा सकी है। घर के पास लगी सब्जियों को घेरा है, पर घोड़परास घेरों को तोड़ सकता है - इसकी आशंका सदैव घेरे रहती है। फिर भी इस पर भरोसा करके रात में चैन से सो लिया जाता है। तड़के सुबह खेत पर नज़र टिकती है कि घेराबंदी विफल साबित हुई या घोड़परास सफल सिद्ध हुआ। वैसे फसल अभी इतने बड़े नहीं हुए कि वह ज्यादा जोर लगाए, हालाँकि वह इनके रोपणकाल के समय से ही अपना कोप दिखाना शुरू कर चुका है।

मौसम और जलवायु के प्राकृतिक चक्र में इंसान ही नहीं, प्राणिमात्र को अनुकूलन बिठाकर अपने-आप को सुरक्षित रखने के लिए तरह-तरह के उपक्रम रचने पड़ते हैं। इन्हें झेलते हुए एक हद तक अभ्यस्त बना जाता है। फिर भी ठंड का मौसम गरीबों को ज्यादा सताता है। सरकारें गर्मी-वर्षा से बचने का उपाय लोगों पर भले छोड़ देती हों, पर ठंड में अलाव, रैन बसेरों का इंतजाम और कंबल वितरण आदि कार्य अपने स्तर पर थोड़ा-बहुत करती हैं। प्रेमचंद का हल्कू एक ओर मौसम की मार तो दूसरी ओर भौतिक, शासनिक, सामाजिक चलन व काहिली की त्रासदी के द्वंद्व में पिसता है। चलन - मालगुजारी की हर हालत में वसूली एवं सूद की बेहिसाब बढ़ोतरी का और काहिली - सरकारी तंत्र द्वारा ठंड से बचने के उपाय न होने का। लेकिन पराक्रमपूर्ण सतत संघर्ष उसके होने का एहसास बढ़ाता है। प्रेमचंद हल्कू के खेत को अंततः नीलगाय से चरा हुआ पाते हैं, वह भी कुत्ते के संग उसके वहाँ पहरेदारी के लिए प्रतिबद्ध होने के बावजूद। जिसके लिए कुत्ते के संग पड़ाव डाल कर जगता है, सदैव चिंतित रहता है और जो उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, उसी में वह ठंड के कारण अनमनस्कता का शिकार हो जाता है। यह सहज मानवीय कमजोरी तो है कि वह अंत में 'जान बचे तो लाख उपाय' और 'जान है तो जहान है' के कारण चीजों से स्वयं को अलग कर लेता है, दूसरा विकल्प खोज लेता है। हल्कू के पास भी सपत्नीक किसानी के साथ या बाद मजदूरी करके भरण-पोषण कर लेने का विकल्प तैरता ही नहीं रहता, बल्कि वह मजदूरी करता भी है। इसी की वजह से कहानी के अंत में फसल के प्रति राग-विराग की कशमकश में नायकोचित परिणाम से विमुक्त हो जाता है, द्वंद्व में अपेक्षित परिणाम आख़िरकार पलट जाता है।

प्रेमचंद के हल्कू के गाँव की तरह भेल्दी भी उत्तर भारत का ही गाँव है, जहाँ ठंड से बचने का परंपरागत सूत्र गढ़ा गया - 'रुई, दुई और धुई', अर्थात् रुई का ओढ़ना-बिछौना, दुई अर्थात् दो लोगों के संग रहना-सोना और धुई अर्थात् धुआँ या आग-अलाव की व्यवस्था रखना। हल्कू खेतों की रखवाली करते हुए ये तीनों सूत्र भरसक आजमाता है। रुई का बढ़िया लिहाफ या कंबल मयस्सर नहीं, परंतु पुरानी चादर तो ओढ़ता ही है। दुई के अंतर्गत मुन्नी या किसी दूसरे का संग नहीं, तो कुत्ते को बिस्तर पर लिटाकर, शरीर में सटाकर अपने को गरम करने का प्रयास रखता है। रात में जब भी ठंड लगती है, तब ईंख और आम के पत्तों को जलाकर आग तापता है। बेशक आजकल पूस की ठंड है, बारिश भी हुई है, मात्र दो घंटे की छिटपुट बरसात में ही बेंग पक्के के बरामदे में कूदने लगे हैं। बावजूद इसके, कड़ाके की सर्दी नहीं पड़ रही है, जैसी पिछले साल पड़ी थी।

पड़ती भी तो क्या, अब खेती के प्रति लगाव कहाँ है? जबरदस्त वर्षा और बारिश के कारण पानी देर से निकला है, जिसकी वजह से बुआई अभी तक चल रही है और बहुत-सारे खेतों को न बोने का निर्णय कार्यान्वित हो चुका है। खेत बोने की मज़बूरी भी नहीं, क्योंकि बहुत पहले से किसान खेतिहर मज़दूर में और खेतिहर मज़दूर औद्योगिक मज़दूर में परिवर्तित होते गए हैं। कृषि-कार्य में लागत 'जितने का बबुआ नहीं, उससे ज्यादा का झुनझुना' साबित हो रहा है। उसी को कुछ बचता है, जो अपने से करता है। सवाल उठता है कि अपने से कितना किया जा सकता है और कौन कर सकता है। इसलिए ज्यादातर लोग खेती से अनासक्त होकर औद्योगिक रोजगार की ओर भाग रहे हैं। वैसे भी यहाँ कोई बड़ा किसान नहीं, भूस्वामी दो-चार-दस बीघे में सिमटे हैं, पट्टे पर खेती करने वाले नहीं मिलते। खेत बोने के लिए ले भी लिया, लेकिन यदि बोया नहीं, खाली छोड़ दिया तो भी फसल देने की बाध्यता नहीं। इस प्रकार खेतीयोग्य भूमि के एक बड़े भाग में जंगल जैसी घास का साम्राज्य स्थापित हो गया है। किसान जमीन बेच रहे हैं, जबकि बाहर से कमाकर आने वाले, जिनके पास अब तक ज्यादा जमीन नहीं थी, वे खरीद रहे हैं। उनके लिए जमीन की कुछ हद तक जरूरत भी है। हल्कू को मालगुजारी देने की चिंता थी, पर अब क्या किसान और क्या मज़दूर, किसी को ऐसी चिंता नहीं, हाँ सरकारों ने जो खैरात बाँटने की प्रथा शुरू की है, उसमें अपने-अपने खाते में रकम आवंटित कराने से कोई चूकना नहीं चाहता - एक घर और एक ही जमीन के लिए कई-कई लोग पैसे ले रहे हैं। जैसे खिचड़ी-चावल, साईकिल के चक्कर में सरकारी स्कूलों की पढ़ाई ख़राब हुई है, उसी तरह 'ऊँट के मुँह में जीरा' की तरह के मुआवजे और सहयोग राशि के भटकाव में खेती के वास्तविक सरोकारों से संपर्क टूटता जा रहा है। सरकारी नीति कृषि व शिक्षा को बढ़ावा देने वाला होना चाहिए न कि छोटे-छोटे प्रलोभनों में उसे कुंद करने वाला। शहरोन्मुख रोजगार की तलाश में अपनी जड़-जमीन से कटते जाना चिंतनीय है।